विपश्यना

[साधकों का मासिक प्रेरणापत्र]

रजि. नं. १९१५६/७१

पोस्टल रजि. नं. NSK - 64

वर्ष ७ • बम्बई • बुद्धवर्ष २५२१ • कार्तिक पूर्णिमा [शक] • दि. २५-११-१९७७ • अंक ६

प्रवचन प्रवाह

१ (ख)

अब देखें कि इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए हम कर क्या रहे हैं ? हमने यह जो अपने सांस को देखना शुरू किया, उसका इस लक्ष्य से भला क्या लेन-देन ? ऐसा प्रश्न उठना स्वाभाविक है। हम यह भी देखते हैं कि जब कोई साधक यह अभ्यास शुरू करता है तो उसके शरीर में भिन्न-भिन्न प्रकार की पीड़ाएं जागने लगती हैं। यह इसी शिविर का नहीं, अनेक शिविरों का अनुभव है। किसी का सिर दुखने लगता है, किसी का पांव टूटने लगता है, किसी की कमर फटने लगती है, किसी का जी मचलाने लगता है, किसी का जी कहता है कि कहां आ कर फंस गए ? सुना था बड़ी शांति है ध्यान में। पर कहां शांति है ? बैठते ही बस पीड़ाएं ही पीड़ाएं हैं। यह सब अपने काम का नहीं है। किसके भुलावे में आ गए ! निकल भागना चाहिए। इस तरह की बातें प्रारंभिक दिनों में खूब उठती है। और कुछ नहीं होता तो ऊंघ ही आने लगती है। आखिर, यह सब क्यों होता है ? इसे भी समझ लेना चाहिए। हम अपने अनुभव के बल पर तथा अन्य अनेकों के अनुभवों के बल पर यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि यदि इस सांस के साथ कोई शब्द जोड़ दें, या रूप जोड़ दें; अपने किसी भी उपास्य देवी-देवता का नाम जोड़ दें अथवा उनकी आकृति की कल्पना साथ-साथ करने लगें तो यह जो कठिनाइयां आ रही हैं वे अधिकांशतः समाप्त हो जायेंगी। इतना जानते हुए भी कहते हैं-नहीं, किसी का नाम-वाम मत जोड़ो, कोई रूप-वूप मत जोड़ो। केवल सांस ही देखो। तो इसके पीछे कोई कारण होगा। अवश्य है। क्या है ? इसे समझें—

एक मोटा कारण तो यह है कि इससे संप्रदाय की बू आने लगती। ध्यान सार्वजनीन नहीं रहता। जो नाम लिया जाय वह किसी एक संप्रदाय से बांधने वाला होगा। 'राम' का नाम हो तो मुसलमान एतराज करेगा—हम राम-राम कैसे कहें ? हमतो अल्ला-अल्ला कहेंगे। 'बुद्ध' का नाम हो तो कोई क्रिश्चियन अड़ेगा कि हम गॉड-गॉड कहेंगे। इत्यादि। फिर सब के लिए एक जैसा ही अभ्यास समानरूप से कैसे लागू पड़ता ? केवल सांस को देखने के लिए कहा गया तो आलंबन सार्वजनीन हो गया। कोई व्यक्ति किसी भी संप्रदाय का हो, किसी भी बोली-भाषा का हो, किसी भी रंग-रूप का हो, किसी भी देश-परिवेश का हो, किसी भी दार्शनिक मान्यता को मानने वाला हो क्या फर्क—पड़ता है ? आदमी आदमी है। सांस तो आता जाता ही है। और हर आदमी बिना झिझक इसी के सहारे अपना मन टिकाने का प्रयत्न कर सकता है। यह हुआ एक कारण।

दूसरा बड़ा कारण यह है कि हमारा लक्ष्य केवल मात्र मन को एकाग्र कर लेना ही नहीं है। अन्यथा हम इस सांस के साथ कोई भी एक शब्द जोड़ देते अथवा कोई एक काल्पनिक आकृति जोड़ देते तो देखते कि सांस भी जाने जा रहे हैं और साथ-साथ कोई शब्द भी दोहराए जा रहे हैं अथवा अपने इष्टदेव की मूर्ति भी हमारे मन के सामने बार-बार आ रही है। इस प्रकार दोहरे सहारे से चित्त एकाग्र होना अधिक सरल हो जाता। परन्तु हमारे लिए चित्त को एकाग्र करना केवल पहली सीढ़ी है, पहला कदम है। हमको इससे आगे बढ़ना है। मन की गहरी से गहरी अवस्थाओं में हमने जो गंदगियां इकट्ठी की है, इन्हें साफ करना है। केवल मात्र एकाग्र करने से चित्त की सफाई नहीं होती। दूषण पर आधारित चित्त भी एकाग्र हो सकता है। होता ही है। चोर उचक्के भी अपने काम के प्रति कितने सजग रहते हैं, एकाग्र-चित्त रहते हैं। मुख्य बात चित्त को दूषण-रहित करने की हैं। भले उसमें समय लगे। और गंदगी भी मन की तल-स्पर्शी गहराइयों तक निकालनी होगी। अन्यथा ऊपर-ऊपर की सफाई हो भी जाय तो स्थायी लाभ नहीं होगा। क्योंकि नीचे स्तर पर विकारों की जो गंदगियां भरी हुई हैं, वे फिर कभी न कभी उभरने लगेंगी ही। कितनी देर उन्हें दबाए रखेंगे ? यह साधना मन के नीचे से नीचे स्तर तक, पेंदे तक जो गंदगी

धम्म वाणी

सुदुद्दसं सुनिपुनं यत्थ काम निपातिनं।
चित्तं रक्खेथ मेधावी चित्तं गुत्तं सुखावहं॥

धम्मपद ३/४.

बड़ा दुर्धर्ष है ! बड़ा चालाक है ! जहां चाहे वहीं जा पहुंचता है, चित्त ! समझदार को चाहिए कि इसकी सुरक्षा करे। सुरक्षित चित्त बड़ा सुखदायी होता है।

है, उसे निकाल कर बाहर करने के लिए है। अतः एकाग्रता के साथ-साथ सफाई का काम भी होना चाहिए। ताकि गहरी एकाग्रता तक पहुंचते-पहुंचते गहरी सफाई भी होती जाय।

तो मुख्य बात चित्त के विकारों को दूर करना है। ताकि हम अपने विकारों के बाहर निकल सकें। इसीलिए हमने शुद्ध सांस का सहारा लिया। सांस का हमारे विकारों के साथ बड़ा गहरा संबंध है। प्रकृति का नियम है कि जैसे ही हमारे मन में कोई विकार जागेगा-क्रोध, ईर्ष्या, भय, कोई भी विकार हो-वैसे ही हमारे सांस की गति अपने आप तेज हो जायेगी। तेज हो ही जायेगी। और जैसे ही वह विकार दूर हुआ, सांस अपने आप धीमा हो जायेगा, सूक्ष्म हो जायेगा, शांत हो जायेगा। याने विकारों के साथ सांस का बड़ा गहरा संबंध है और हमें तो विकार दूर करने हैं। जब तक हम अपने विकारों को देख नहीं पायेंगे, उनका साक्षात्कार ही नहीं कर पायेंगे, तब तक उनको दूर नहीं कर सकेंगे। ओट में रखी हुई चीज को हम कैसे साफ करेंगे? पहले ओट दूर करनी पड़ेगी। सामना करेंगे उसका। फिर साफ करेंगे उसको। तो हमें अपने मानसिक विकारों तक ले जाने के लिए कोई माध्यम है तो यह हमारा अपना सांस है। क्योंकि विकारों के साथ इसकी कड़ी जुड़ी हुई है। यह एक मोटा कारण है जिसकी वजह से हमने शुद्ध सांस को महत्व देना शुरू किया। इसके साथ यदि कोई शब्द जोड़ देते तो सांस अपनी जगह रह जाता और हम उस शब्द की गूंज में, उसके बार-बार के मानसिक उच्चारण में अपने आपको किसी ऐसी स्थिति में ले जाते, जिससे हमें एकाग्रता तो मिलती, लेकिन अपने विकारों को देख सकने की स्थिति तक नहीं पहुंच पाते। यही बात रूप (आकृति) की होती। हमारा सीधा संपर्क अपने विकारों के साथ होना चाहिए। इसीलिए शुद्ध सांस को माध्यम बनाया गया।

आदमी जन्म लेकर आंख खोलता है तो बाहर की दुनिया ही देखता है। वह जीवन भर यही जानना चाहता है कि यह दुनिया क्या है, कैसे बनी है? यह चांद, यह सूरज, यह सितारे, यह पृथ्वी—यह सब क्या है? कैसे घूमते हैं? काहे से बने हैं? आदि-आदि बातों को जानने के लिए बड़ी जिज्ञासा जागती है और उसकी पूर्ति में बौद्धिक स्तर पर बड़ी खोज भी करता है। पर करता है सदा बाहर की ही खोज। सदा बहिर्मुखी-बहिर्मुखी। या तो ठोस पदार्थों को जानने के लिए-पृथ्वी, आकाश, चांद, तारों की खोज के लिए दौड़ लगाता है-यह जिज्ञासा किसी तरह से पूरी होनी चाहिए अथवा किन्हीं कल्पनाओं के पीछे दौड़ लगाता है-आखिर यह संसार कैसे बना होगा? किसने बनाया होगा? इस विचित्र संसार को बनाने वाला कैसा होगा? किसी ने कल्पना की, ऐसा होगा! किसी अन्य ने कल्पना की, नहीं, ऐसा नहीं-वैसा होगा! किसी तीसरे की कल्पना तीसरे ही प्रकार की। तरह तरह की कल्पनाओं में उलझकर कुछ जानने की कोशिश करता है। फिर भी बहिर्मुखी, पराङ्मुखी ही रहे। अंतर्मुखी नहीं, आत्ममुखी नहीं। अपने आपको जानने के लिए हम कोई खोज नहीं कर रहे। अन्तर्मुखी होकर अपने आपको जानें। यह सारा शारीरिक प्रपंच जिसे 'मैं-मैं-मैं' कहे जा रहा हूं, जिसे 'मेरा-मेरा-मेरा' कहे जा रहा हूं-यह क्या है भला? यह सारा मानसिक प्रपंच जिसे "मैं-मैं" और "मेरा-मेरा" कहे जा रहा हूं-यह क्या है भला? इसे जाने। अथवा इस तन और इस मन के परे कोई अस्तित्व है तो उसे जानें। जानने का मात्र एक ही तरीका हो सकता है-अपनी स्वानुभूतियों के बल पर जानें। स्वानुभूति नहीं होगी तो जानना नहीं होगा; केवल मानना होगा—श्रद्धा के बल पर मानना—केवल पढ़कर या सुनकर। शरीर के बारे में जानना है तो किसी शरीर-शास्त्री से कुछ सुन लिया अथवा शरीर-विज्ञान की किसी पुस्तक से कुछ पढ़ लिया। इसी प्रकार मन के बारे में किसी मनोविज्ञान के शास्त्री से कुछ सुन लिया अथवा मनोविज्ञान की किसी पुस्तक से कुछ पढ़ लिया। ऐसा है, ऐसा है, ऐसा है। जान लिया। नहीं, जानना नहीं; मानना हुआ। बौद्धिक लेप हुआ। अनुभूतियों के स्तर पर तो कुछ नहीं जाना।

जब तक हम अपने आपको स्वानुभूतियों के स्तर पर नहीं जान लेते, "मैं क्या हूं?" इसकी खोज स्वयं नहीं कर लेते, तब तक उलझने बढ़ने ही वाली हैं। यह जो स्वानुभूतियों के स्तर पर जानना है वह केवल कौतूहल-पूर्ति के लिए नहीं है। कौतूहल जिज्ञासा को पूरा करना हमारा लक्ष्य नहीं है। इसके पीछे एक बहुत बड़ा राज है। जैसे ही मैं इस सारे प्रपंच को सचमुच जानने लगूंगा, वैसे ही यह भी जानने लगूंगा कि मैं क्यों दुखी हो जाता हूं? मेरे अन्दर तनाव-खिंचाव क्यों आ जाते हैं? और यह भी जानने लगूंगा कि इनसे कैसे छूटा जा सकता है। इन विकारों को कैसे दूर किया जा सकता है? क्योंकि फिर मैं अपने इन विकारों के साथ सीधा संपर्क करने लगूंगा। अपने भीतर जो कुछ हो रहा है, उसके साथ मेरा सीधा संपर्क हो जायेगा। केवल मात्र बुद्धि-विलास नहीं रहेगा। आज तो मुझे अनुभूतियों के स्तर पर कुछ पता नहीं कि यह शरीर क्या है? कैसे काम कर रहा है? यह चित्त क्या है? कैसे काम कर रहा है? इन दोनों में कैसे तनाव पैदा हो जाता है? कैसे तनाव दूर हो पाता है? इसके बारे में कुछ नही जानता। इन दोनों के परे की तो बात ही बहुत दूर है।

शरीर और चित्त के परे भी कोई अवस्था है? और यदि है तो क्या है? बौद्धिक स्तर पर ही स्वीकार करके रह गए। बहुत शास्त्र पढ़ लिए न! विद्वानों और पंडितों के बहुत उपदेश सुन लिए न! यह सारा संसार नश्वर है पर वह जो इससे परे है-वह नित्य है, शास्वत है, ध्रुव है, कूटस्थ है, अचल है। मान लिया। किसी ने वह दिया और हमने सुनकर बौद्धिक स्तर पर स्वीकार कर लिया। पर साक्षात्कार कहां? अनुभूति कहां? दृष्य और दर्शक के बीच में कोई दीवार नहीं हो तो ही साक्षात्कार कहलाता है। और यहां तो इस बुद्धि के लेप की दीवार बीच में आ गई। किसी ने कोई बात कही, मेरी बुद्धि ने मानी। अब जब कभी मैं उस विषय का चिंतन करूं तो मेरी बुद्धि पर जो लेप चढ़ा दिए गए, वे लेप ही बार-बार सामने आते हैं। बचपन से उसके बारे में ऐसे ही सुनते आ रहा हूं, इसलिए उसकी एक मूर्ति मैंने अपने मन में गढ़ ली। एक चित्र मेरे मन में अंकित कर लिया। मन का वह चित्र बार-बार बाह्य-प्रक्षेपित होता है। जब भी ध्यान में बैठता हूं, वही सामने आता है और मैं समझ लेता हूं कि मैंने दर्शन कर लिए। मैंने साक्षात्कार कर लिया। मैंने सब जान लिया। रह गया कोरा का कोरा ही। क्योंकि सच्चाई की स्वयं खोज नहीं की। सभी पूर्व लेपों को जरा भी महत्व न देकर, अपनी अनुभूतियों के बल

पर जो कुछ प्रकट हो उसे देखता रहूं—तो देखते-देखते एक पर एक लेप उतरते जले आयेंगे। सारे लेप उतरे बिना इंद्रियातीत का साक्षात्कार नहीं हो सकेगा। हर लेप एक बंधन है। लेप-विहीन होना ही विमुक्ति है। विमोक्ष है। लेप-विहीन अवस्था इंद्रियातीत अवस्था है। पर उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। कल्पना हो तो एक और लेप लग जायेगा। वास्तविक निर्लेप से दूर रह जायेंगे। विमुक्ति से दूर रह जायेंगे। इंद्रियातीत अवस्था एक धोखा बनकर रह जायेगी। समस्त ऐन्द्रिय जगत क्या है? इसका जब तक मुझे कोई अनुभव नहीं, तब तक कोई न कोई ऐन्द्रिय-जगत की अवस्था ही मेरे लिए इंद्रियातीत बनकर सामने आ सकती है। इसलिए जब तक इंद्रिय-जगत की स्थूल से स्थूल सच्चाइयों से आरंभ करके सूक्ष्म से सूक्ष्म की अनुभूति न कर ली जाय, तब तक ऐन्द्रिय जगत का अतिक्रमण कर, इंद्रियातीत का साक्षात्कार कैसे कर सकेंगे? स्थूल सच्चाइयों से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम् ऐन्द्रिय सच्चाई और उसके परे इंद्रियातीत परम सत्य की यह यात्रा-विकारों से विकार-विहीन की यात्रा है; चित्त-अशुद्धि से चित्त-विशुद्धि की यात्रा है, जिसका आरंभ सांस की सच्चाई से किया जाता है।

यह एक मोटा कारण है जिसकी वजह से हमने केवल सांस का सहारा लिया—इस साधना में।

क्रमशः.....

इगतपुरी में स्वयं शिविर

क्रमांक	३)	दिनांक २८-११-७७ से ९-१२-७७ तक
,,	४)	,, २१-१२-७७ से १-१-७८ तक
,,	५)	,, ८-१-७८ से १९-१-७८ तक
,,	६)	,, २१-१-७८ से १-२-७८ तक
,,	७)	,, १४-२-७८ से २५-२-७८ तक
,,	८)	,, २५-३-७८ से ८-३-७८ तक

नोट : १) जैसा कि पिछली पत्रिका में आपने पढ़ा होगा, इस नए सत्र में महीने में केवल एक ही सामान्य शिविर दिया जा सकेगा। अतः पुराने साधकों की सुविधा के लिए स्वयं-शिविरों की सूची में उपरोक्त शिविर और जोड़े गए हैं।

२) स्वयं-शिविर में केवल वे पुराने साधक ही सम्मिलित हो सकेंगे जो कि विद्यापीठ की अनुशासन-संहिता का कड़ाई से पालन कर सकें।

३) कोई साधक यदि पूरे शिविर में सम्मिलित न हो सके तो वह अपनी सुविधानुसार बीच में कम दिनों के लिए भी सम्मिलित हो सकता है।

४) प्रत्येक अवस्था में आवश्यक है कि व्यवस्थापक से अपना स्थान सुरक्षित रखने की पूर्व स्वीकृति प्राप्त कर लें।

५) यथासंभव प्रत्येक शनिवार-रविवार को पूज्य गुरुजी 'धम्मगिरि' पर उपस्थित रहेंगे। अतः जिस साधक को कोई विशेष कठिनाई हो, उनसे मार्ग-दर्शन प्राप्त कर सकेगा।

६) स्वयं-शिविर में अन्य सभी सुविधाएं उपलब्ध रहेंगी।

बोधगया में स्वयं-शिविर

दिनांक ८-१-७८ से १९-१-७८ तक।

बोधगया का स्वयं-शिविर पूज्य गुरुजी का अपना वार्षिक स्वयं-शिविर है। इसके नियम इगतपुरी के सामान्य नियमों से भी अधिक कठिन होते ह। अतः इसमें केवल उन्हीं पके हुए साधकों को भाग लेना चाहिए जो कि अपने आपको पूरी तरह से समर्थ पाते हों। पूज्य गुरुजी के साथ बोधगया की पावन भूमि में तपने का अपना महत्व है पर शिविर के दौरान गुरुजी से किंचित मात्र भी संपर्क नहीं किया जा सकता। न किसी अन्य साथी साधक से कोई संपर्क किया जा सकता है। साधक को स्वयं अपने बल पर तपना होता है। पर्याप्त आत्मबल वाले पुराने साधकों को ही इस शिविर में सम्मिलित होने की अनुमति दी जाती है। अतः इसके लिए पूज्य गुरुजी से पूर्व अनुमति प्राप्त करके अपना स्थान सुरक्षित करवा लेना आवश्यक है।

साधकों के उद्गार

नागपुर की एक साधिका लिखती है, "अबके विपश्यना के बाद बहुत लाभ हुआ। जिन बातों से मेरा अंतःकरण जलता रहता था, अब देखती हूं तो उनका कुछ अस्तित्व ही नहीं है। जिसको सांप समझकर पास से देखा तो रस्सी ही निकली। शाब्दिक स्तर पर ये बातें सुनते थे पर जब तक स्वयं को नहीं देख लो, मालूम नहीं पड़ता।

.....मेरा जीवन कृतार्थ किया आपने। शब्दों की ससीमता से कुछ कह नहीं पा रही हूं। .....

कितना कूड़ा बिना काम ढोए जा रही थी। मन में दरारें पड़ गयी थीं। अब तो देखती हूं कि सिर्फ मैं जिम्मेदार हूं सब के लिए, दूसरों को दोष देना व्यर्थ है।

गुरुजी! द्वेष के विचार आते ही उस व्यक्ति के लिए मंगल मैत्री देती हूं ..... भला हो! भला हो! ..... ये आवाज आज भी मेरे मन में गूंज रही है।

संजीवनी विद्या से हम मृतकों में नवीन जीवन का संचार हुआ। भगवान, यह लाभ सबको मिले, सभी सुखी हों। .....

मुजफ्फरनगर का एक साधक लिखता है, "मेरे पूज्य पिताजी का शरीर अचानक हृदयगति रुक जाने से शांत हो गया! ..... सचमुच पिता का साया कितना बड़ा साया होता है। ..आपके द्वारा प्रदान की गई इस अमूल्य धर्म विधि ने मुझे स्थिति को संभालने में जितना सहयोग दिया है, लिख नहीं सकता। वास्तव में इसके वास्तविक लाभ को इस कठिन समय पर अनुभव कर सका हूं।

जैसे ही इस घटना के घटित होने का आभास हुआ कि तुरंत मन आनापान की ओर लगने लगा और अधिक समय आनापान अथवा विपश्यना में ही बीता। यह सब ध्यान प्रत्येक कार्य के साथ-साथ चलता रहा। सचमुच ऐसा करने से मन में स्थिरता बनी रही और परिस्थिति को संभालने की शक्ति का मुझमें बराबर संचार होता रहा। सचमुच इतना कल्याणकारी मार्ग सब को प्राप्त हो जाये तो दुख दुख-स्वरूप न रहे! .....

आगामी शिविर

शिविर क्रमांक १४४ * **इगतपुरी** (वि. वि. वि.) दि. १०–१२–७७ से २१–१२–७७ तक (अंग्रेजी)

,, १४५ **हैदराबाद** (वि अ सा. के.) दि. ४– २–७८ से १४– २–७८ तक (हिन्दी)

संपर्क :– श्री. रतीलाल एम. मेहता, द्वारा विपश्यना अन्तर्राष्ट्रीय साधना केन्द्र,
१२–६, नागार्जुन सागर रोड, कुसुम नगर, हैदराबाद–५०० ०३५ (फोन–५९२५९)

शिविर क्रमांक १४६ * **इगतपुरी** (वि. वि. वि.) दि. ११–३–७८ से २२–३–७८ तक (अंग्रेजी)

* **संपर्क : व्यवस्थापक**, विपश्यना विश्व विद्यापीठ, धम्मगिरि, इगतपुरी–४२२ ४०३. (फोन नं. ७६)

नोट :– १) कृपया साधना शिविर में शामिल होने से पूर्व शिविर–व्यवस्थापक के पास अपना नाम रजिस्टर करा लें। किसी कारणवश शिविर में सम्मिलित न हो सकते हों तो कृपया पर्याप्त समय रहते सूचित करें ताकि किसी अन्य प्रत्याशी को स्वीकृति दी जा सके।

२) अंग्रेजी शिविर में हिन्दी प्रवचन सुनने हेतु हिन्दी टेप की सुविधा उपलब्ध रहेगी।

३) शिविरों के नियम कड़े होते हैं। उनका कड़ाई से पालन कर सकें तो ही भाग लेना चाहिए।

एक शुभचिंतक
की मंगलकामनाओं सहित।

पूर्णिमा ड्रेसेज
४/४/२०५, सुलतान बाजार,
हैदराबाद – ५०० ००१. (फोन ४५३४८)
की मंगल कामनाओं सहित।

दोहे धर्म के

मन ही शाहन्शाह है, मन ही रंक फकीर।
मन कायर, भयभीत मन. मन रणबंका बरि॥
मन ही उपजे द्वेष भी, मन ही उपजे राग।
मन ही उपजे धरम भी, मन ही उपजे त्याग॥
मैला मन एकाग्र कर, शोध सके तो शोध।
मैले [illegible] दुखिया रहे, विकल, अशांत, अबोध॥
सांस सांस को देखते, मन अविचल हो जाय।
अविचल मन होए विमल, सहज मुक्त हो जाय॥
देखो अपने आपको, समझो अपना आप।
अपने को जाने बिना मिटे न भव–संताप।
अपना भला न कर सका, देख पराए दोष।
होश जगा, सुधरन लगा, जब देखे निज दोष॥

दूहा धरम रा

किसोक मन मोथो हुयो, अपणो बैरी आप।
अपणो ही अनहित करै, करै पाप पर पाप॥
मन ही दुरजन, मन सुजन, मन बैरी, मन मीत।
जीवन म दिवळा जळै, जद मन हुवै पुनीत॥
चित्त घणो चंचल चपल, चित्त घणो चालाक।
बस होयां रावळ बणै, बेबस रूळज्या खाक॥
मन ! मत एहड़ा करम कर, जिण करमां दुख छाय।
जिण करमां रो फल पक्यां, हिवड़ो भर भर आय॥
मन ! तू एहड़ा करम कर, जिण करमां सुख छाय।
जिण करमां रो फल पक्यां हियै मोद हुलसाय॥
जो चावै दुखड़ा कटै, जीवन म सुख होय।
बस म कर ले चित्त नै, चित कै बस मत होय॥

सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट के लिए संपादक मुद्रक प्रकाशक : **मधु काबरा**, सिलवेस्टर बिल्डिंग, २० शहीद भगतसिंह मार्ग बम्बई २३.
टेलीफोन : २६९४११, मुद्रण स्थान : **अक्षरचित्र मुद्रणालय** सातपुर, नासिक ४२२ ००७. टेलिफोन ८२५१
विज्ञापन : आधा पृष्ठ रू. ४००/–, चौथाई पृष्ठ रू. २०० /–, वार्षिक शुल्क रू. ५/, आजीवन शुल्क रू. ५१/–

"विपश्यना"
पो. रजि. नं. NSK/64
प्रेषक :
विपश्यना विश्व विद्यापीठ
धम्मगिरि, इगतपुरी, ४२२ ४०३.
(नासिक – महाराष्ट्र)